THE TIMES OF INDIA

Date:25-02-20

Don't eliminate MDR

Administrative fiats to deepen digital transactions will be counter-productive

TOI Editorial

A positive spin-off of the increasing digitalisation of human activity is an explosion in digital payments. An RBI appointed committee on the subject chaired by Nandan Nilekani concluded last year that in a space of five years, per capita annual digital transactions rose from 2.4 to 22. In keeping with finance minister Nirmala Sitharaman's proposal in her first budget last year, the process of eliminating Merchant Discount Rate (MDR) began this year. MDR is a catchall term which encompasses the range of fees collected by different entities which make a digital transaction possible. This step needs to be seen in the context of the constraints existing in India's digital payments ecosystem.

There is a strong supply of products and options to complete transactions without the use of cash. The challenges come from a degree of reluctance on the part of merchants to bear MDR and network issues. An administrative fiat to eliminate MDR is an ill-conceived idea. Many firms which form a link in the chain of digital transactions depend on it to run their operations. In the absence of revenue, they will wither away. Some firms in this chain will, in the absence of transaction fees, look to trade on the customer data they collect. In the absence of a monetary incentive, commercial operations are implausible. The government, if it wants to eliminate MDR, should use its resources to offset the costs incurred by the firms engaged in the backend of digital transactions.

Another option for the government is to look at ways to complement the Unified Payments Interface (UPI), which created a game changing backend digital payments infrastructure. UPI was created by National Payments Corporation of India, an initiative of RBI. Another step government needs to take is to reduce costs related to KYC norms, which was recommended by the Nilekani committee. The best way to promote non-cash methods is to create a light-touch regulatory framework which will allow disruptors an opportunity to both lower costs and introduce innovations. This will work better than administrative fiats which trigger unintended consequences in most cases.

THE ECONOMIC TIMES

Date:25-02-20

Needed, a National Water Commission

ET Editorial

The reported alarming drop in the water table in Bihar —as much as 13-25 ft — since last August is not so much a state-level crisis as it is a warning to the entire country.

It underlines the crisis of sustainability in India's inefficiently managed water economy. India is the largest user of groundwater, over 60% of our districts face groundwater overexploitation, and in the last 40 years, well over three-fourths of total addition to irrigation has also been by tapping groundwater. This is a political challenge, calling for the courage to charge for water, to conserve use and finance maintenance.

Reported large-scale encroachment of water bodies and paucity of water-harvesting measures would appear to have precipitated the current crisis, especially in Seemanchal and the southern part of Bihar. One report says that over 34,000 water bodies have been encroached upon.

And the uneven distribution of rains has only made matters worse. So, even a state quite well-endowed with water resources can face aquifer depletion. Several, simultaneous steps are urgently called for to recharge groundwater nationally. Clearly, the way forward in Bihar is to purposefully remove silt and encroachment from water bodies.

In parallel, there's the need to build check-dams on a large scale to boost water recharge. Also, Bihar is a major agricultural state and needs to step up efficient use of water in agriculture. Studies reveal that water usage for major crops in India is 2-4 times the global norm. What is worse, the lax maintenance of surface irrigation systems is quite routine; even nominal water charges are often unrevised for decades!

The way ahead is to levy reasonable canal-water charges and to have decentralised, participatory water management structures in place. The Mihir Shah expert committee report did call for an integrated National Water Commission, which needs to take the lead in national aquifer mapping and groundwater management. The fast-falling water tables have severe implications for livelihood security: it surely calls for focused policy action on the ground.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:25-02-20

मतदान का 'आधार'

संपादकीय

सरकार ऐसा कानून बनाने की तैयारी में है जिसमें विशिष्ट पहचान सुनिश्चित करने वाले आधार क्रमांक को मतदाता पहचान-पत्र से जोडऩे का प्रावधान होगा। इस तरह के फैसले के पीछे की सरकार की मंशा समझना आसान है। तमाम सरकारी कार्यक्रमों के लाभार्थियों का दोहराव रोकने के लिए आधार डेटा का इस्तेमाल किया गया है। ऐसी स्थिति में अफसरशाही आधार क्रमांक और मतदाता पहचान-पत्र जोडऩे को सरकारी कार्यक्रमों और मतदान के लिए योग्य भारतीयों की एक संपूर्ण सूची तैयार करने की दिशा में सिर्फ अगले कदम के तौर पर देख रही है। लेकिन आधार और मतदाता पहचान-पत्र जोडऩे के कई ऐसे नतीजे भी होंगे जिनका ध्यान रखने की जरूरत है। निश्चित रूप से आधार के उपयोग से एक से दूसरे निर्वाचन-क्षेत्र में जाने वाले मतदाताओं को राहत मिल सकती है। इससे उन लोगों को फायदा होगा जिन्हें आर्थिक एवं अन्य कारणों से अपना गृह-क्षेत्र छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ता है। आधार से मतदाता पहचान-पत्र जुड़े होने से वे नई जगह पर भी मतदान आसानी से कर पाएंगे।

हालांकि यहां पर यह सवाल भी पूछा जाना चाहिए कि सरकार एक ऐसी चीज को क्यों अनिवार्य बनाना चाहती है जिसे मौलिक रूप से पूरक माना गया था? अगर आधार की संकल्पना एक ऐसे तरीके के तौर पर की गई है जिसके माध्यम से कोई दूसरा पहचान-पत्र नहीं रखने वाला व्यक्ति भी निर्वाचन अधिकारियों के समक्ष अपनी पहचान साबित कर सकता है तो फिर इसे गलत नहीं कहा जा सकता है। लेकिन अगर इसे एक संभावित मतदाता की राह में खड़े होने वाले एक और अवरोध के तौर पर देखा जा रहा है तो फिर अलग बात है। उस स्थिति में मताधिकार का दायरा व्यापक करने का मकसद ही पूरा नहीं होता है। यहां यह प्रश्न केंद्र में आ जाता है कि सरकार नागरिकों के आंकड़े तक क्यों और कैसे पहुंच रख सकती है? अगर नागरिकों के बारे में जुटाए गए आंकड़े तक पहुंच और उपयोग पर नियंत्रण के तरीके तय करने वाला समुचित कानून बन जाता है तो फिर मतदाता खुद को अशक्त या भयभीत नहीं महसूस करेगा। इस संदर्भ में ब्लॉकचेन तकनीक के उपयोग को लेकर चर्चा हुई है।

सच तो यह है कि चाहे जिस तकनीक का इस्तेमाल हो रहा हो, अगर नागरिकों से संबंधित आंकड़े कूटबद्ध रूप में रखे गए हैं तो फिर निश्चित तौर पर आपत्तियां कम होंगी। इसके अलावा ऐसे संवेदनशील क्षेत्र में आधार के इस्तेमाल को पहले प्रायोगिक स्तर पर परख लेना चाहिए। इसे बेहद सीमित पैमाने पर परखे जाने के पहले एक साथ पूरे देश या एक राज्य में भी नहीं लागू कर देना चाहिए। अभी तक यह साफ हो जाना चाहिए कि आधार के जरिये बड़े पैमाने पर सत्यापन करना भी कोई कम-जटिल कवायद नहीं है। मतदाता सूची में संशोधन जैसे संवेदनशील मामलों को सूची से बाहर किए जा रहे लोगों का ध्यान रखे बगैर आधार प्रक्रिया के भरोसे नहीं छोड़ा जाना चाहिए। क्रमिक क्रियान्वयन या प्रायोगिक कार्यक्रमों से पता चल सकता है कि कौन लोग बाहर हो रहे हैं?

अफसरशाह आधार कार्ड के ऐसे उपयोगों के बारे में सुझाव देते रहेंगे जब तक कि सरकार द्वारा जुटाए गए नागरिकों के निजी डेटा के इस्तेमाल को लेकर कोई स्पष्ट कानून नहीं बन जाता है। डेटा निजता पर एक समग्र कानून यह काम कर देगा। लेकिन आज के समय में यह एक निरर्थक उम्मीद ही लगती है। लिहाजा नागरिक डेटा के उपयोग के बारे में सरकार की शक्तियां सीमित करने वाले कानून को लाए जाने की संभावना बेहद कम ही है। लेकिन ऐसा होने पर भी सरकार और चुनाव आयोग को सत्यापन के इकलौते जरिये के रूप में आधार कार्ड पर निर्भरता बढऩे के खतरों को भी समझना होगा।

Date:25-02-20

जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए टिकाऊ समाधान पर हो जोर

सुनीता नारायण

ऐसा लगता है कि जलवायु परिवर्तन के लिए मानव इतिहास में इससे बदतर समय नहीं हो सकता था। यह साफ है कि अब स्थितियां हाथ से निकल रही हैं। हर साल नया वर्ष शुरू होने तक हमें बताया जाता है कि यह सबसे गर्म वर्ष है। इसके बाद नया रिकॉर्ड टूट जाता है। जंगलों में आग से लेकर तूफानों के बार-बार आने और उनकी तीव्रता में इजाफा होने, अत्यधिक ठंडी लहरें और अत्यधिक गर्मी जैसी सभी स्थितियां बदतर होती जा रही हैं। लेकिन हमें इन हालात को काबू में करना होगा। असल तथ्य यह है कि जलवायु परिवर्तन वास्तविक है, यह घटित हो रहा है और यह हमारे विश्व के गरीबों को और हाशिये पर ला रहा है। भूमि पर काम करने वाले और पानी का इस्तेमाल करने वाले किसान, पशुपालक आदि सबसे अधिक प्रभावित हो रहे हैं। वे जलवायु परिवर्तन के पीड़ित हैं। दुनिया के गरीबों की इस समस्या को पैदा करने में कोई भूमिका नहीं है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनकी तकलीफ हमारी दुनिया को ज्यादा असुरक्षित बना देगी। हालांकि उनकी तकलीफ और बढ़ने जा रही है। यही वजह है कि हमें तत्काल इस पर काम करने की जरूरत है।

इनमें से प्रत्येक प्राकृतिक आपदा नहीं है। ये आपदाएं विकास लाभ को छीन लेती हैं, जिनके लिए सरकार इतनी अधिक मेहनत करती हैं। घर और अन्य व्यक्तिगत संपत्तियां बह जाती हैं, सड़क एवं बुनियादी ढांचा नष्ट हो जाता है और सभी को फिर से बनाना पड़ता है। यह भी साफ है कि बाढ़ या सूखे का केवल जलवायु परिवर्तन या मौसम में बदलाव से ही लेना-देना नहीं है। हकीकत यह है कि सूखे का संबंध जल संसाधनों के कुप्रबंधन से भी है, जहां पर्याप्त बारिश का पानी फिर से जमीन में नहीं डाला जा रहा है या जल का अकुशल एवं असमान उपयोग हो रहा है। बाढ़ की वजह जल निकासी की योजना नहीं बना पाना, ढालू क्षेत्र में वनों की सुरक्षा की चिंता नहीं करना या बाढग्रस्त क्षेत्र का निर्माण और उसे नष्ट करना आदि शामिल हैं। पहले से ही कुप्रबंधित भूमि और कंगाल राजनीति के अलावा खराब मौसम भी हालात को विकट बनाता है।

मैं इसे दोहरी मार मानती हूं। पहले से ही गर्म और जल के अभाव वाली जमीन के लिए उच्च तापमान स्थितियों को विकराल बना रहा है। हरे-भरे क्षेत्र का अभाव मरुस्थलीकरण की स्थितियां बढ़ाता है। वहीं भूमिजल के अतिदोहन और सिंचाई की अच्छी पद्धतियों को नहीं अपनाए जाने से भूमि खराब होती है। इसके अलावा हम जिस तरह से खेती कर रहे है और हम जो खा रहे हैं, उसकी वजह से भूमि का इस्तेमाल बढ़ रहा है। और हम जिस तरह से उगा रहे हैं, उससे वह उत्पादित हो रहा है, जो हम खाते हैं।

जलवायु परिवर्तन और भूमि पर आईपीसीसी की 2019 की रिपोर्ट में यह सही कहा गया है कि आधुनिक कृषि में रसायनों का इस्तेमाल बढ़ा है और इसका औद्योगीकरण बढ़ा है। इससे ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ रहा है। रिपोर्ट में खानपान में बदलाव की जरूरत बताई गई है, जिनसे हम पृथ्वी पर आसानी से अपना सफर पूरा कर सकेंगे। अब हमारे खानपान और हमारे जलवायु परिवर्तन फुटप्रिंट को जोड़ा गया है। यह साफ है कि असामान्य मौसम की तीव्रता और बारंबारता में बढ़ोतरी के कारण आपदाओं की संख्या में इजाफा हो रहा है, जिससे गरीब और गरीब होंगे। उनकी गरीबी उन्हें भूमि को छोड़कर जीविका के अन्य विकल्प तलाशने पर मजबूर करेगी। उनके पास एकमात्र विकल्प आप्रवास- किसी शहर या अन्य देश में जाना होगा। हमारी वैश्विक दुनिया आपस में जुड़ा हुआ और एक-दूसरे पर निर्भर है। इसे हमें पहचानना होगा।

इसमें मौके मौजूद हैं। अगर हम अपने भूमि और जल के प्रबंधन को सुधार लें तो हम जलवायु परिवर्तन के भयंकर असर से बच सकते हैं। हम सबसे गरीब लोगों के लिए संपत्ति बना सकते हैं और उनकी जीविका सुधार सकते हैं। ऐसा करके हम ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन कम कर सकते हैं क्योंकि अधिक पेड़ कार्बनडाइऑक्साइड को अवशोषित करेंगे। मिट्टी की सेहत में सुधार से कार्बनडाइऑक्साइड पर अंकुश लगेगा और सबसे महत्त्वपूर्ण कृषि के तरीकों और खानपान में बदलाव से ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन कम होगा। यहीं वास्तविक जवाब छिपा है।

इसलिए हमें गरीबों की अर्थव्यवस्थाओं में निवेश करना होगा। हमें उनकी क्षमताएं बनानी होंगी ताकि वे न केवल अगली आपदा को झेल सकें बल्कि असल में आपदा पर पार पा सकें। इसके लिए हमें उन पारिस्थितिकी परिसंपत्तियों- रेनवाटर हार्वेस्टिंग से लेकर बेहतर खाद्य प्रणालियों पर निवेश करना होगा, जो ज्यादा टिकाऊ हैं। हमें टिकाऊ शब्द को फिर से परिभाषित करना होगा। आम तौर पर अधिक लागत वाली कृषि पद्धतियां उत्पादक होती हैं, लेकिन टिकाऊ नहीं होती हैं। जब किसानों का कर्ज अधिक होता है तो उनके झटका लगने की ज्यादा आशंका होती है। इसलिए हमें छोटी जोत वाली कृषि पद्धतियों को समझने की जरूरत है, जो बहुफसली, कम लागत वाली और झटकों को झेलने के लिए बनी हैं। हमें उन्हें मजबूत करना होगा, न कि उनकी जगह अपनी पद्धतियां लागू करना। गरीब का ज्ञान कम नहीं है। वे निरक्षर हैं, लेकिन साक्षरों के लिए बहुत बड़े संसाधन हैं। हमारा प्रयास सीखना और देना होना चाहिए।

लेकिन आखिर में मैं पूरे दृढ़विश्वास से यह कहना चाहूंगी कि गरीब या अमीर खुद को बढ़ते तापमान के मुताबिक नहीं ढाल सकते, इसलिए विनाश बड़ा और प्रलयकारी होगा। इसलिए अगर हम कारोबारों को भी अलग तरीके से बनाते या निवेश करते हैं तो हमें ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन कम करने पर कड़े कदम उठाने होंगे। अभी तक दुनिया ने बहुत कम और बहुत देरी से किया है। इस प्रवृत्ति में बदलाव जरूरी है। हम सब के लिए।

नईदुनिया

Date:25-02-20

ध्रुवीकरण की राजनीती से उपजी चुनौतियां

आज भारत के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती विस्तारवादी चीन नहीं, बल्कि ध्रुवीकृत होती देश की राजनीति है ।

ब्रह्मा चेलानी , (लेखक सामरिक मामलों के विश्लेषक हैं)

वैश्विक स्तर पर भारत की छवि एक कोलाहल भरे लोकतंत्र की है। इसके बावजूद भारत को दुनिया भर में इस बात के लिए भी सम्मान दिया जाता है कि वह दुनिया की पहली ऐसी विकासशील अर्थव्यवस्था है जिसने स्वयं को आधुनिक बनाने और निखारने के लिए शुरुआत से ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया का सहारा लिया। हालिया दौर में कुछ स्थितियां जरूर बदली हैं। बेहद विभाजित दलीय-वैचारिक राजनीति ने इस कोलाहल को और कर्कश बना दिया। इससे राष्ट्रीय विमर्श विषैला हो गया है। आंतरिक विभाजन की खाई चौड़ी हो रही है। राष्ट्रीय सुरक्षा परिदृश्य के समक्ष चुनौतियां बढ़ गई हैं। यह भारत की अंतरराष्ट्रीय छवि को प्रभावित कर रहा है।

यह सही है कि भारत कोई इकलौता लोकतंत्र नहीं जो ध्रुवीकरण या राजनीतिक विमर्श में कटुता का शिकार हो। कई पश्चिमी लोकतंत्रों में इस समय दलगत या वैचारिक भावनाएं चरम पर हैं। अमेरिका से बेहतर शायद इसकी कोई और मिसाल नहीं हो सकती। वहां प्रतिनिधि सभा ने राष्ट्रपति ट्रंप के महाभियोग प्रस्ताव पर दलगत भावना के साथ ही मतदान किया। डेमोक्रेटिक पार्टी को अपनी इस कवायद में एक भी रिपब्लिकन सदस्य का साथ नहीं मिला। यहां तक कि सीनेट में ट्रंप को आरोपों से बरी करने की कवायद भी पूरी तरह दलगत आधार पर ही हुई।

अमेरिका धनी देश है और उसका आस-पड़ोस सुरक्षित है। अमेरिकी संस्थान भी इतने मजबूत हैं जो उसकी अर्थव्यवस्था एवं सुरक्षा को दलगत भावनाओं से कवच प्रदान करते हैं। इसके उलट भारत एक गरीब देश है। उसे पड़ोसी भी बिगड़ैल ही मिले हैं। ऐसी स्थिति में अगर भारत में विभाजन एवं ध्रुवीकरण की खाई और चौड़ी होती है तो यह राष्ट्रीय सुरक्षा एवं आर्थिक बेहतरी के लिए निश्चित रूप से एक खतरा बनेगी। लोकतंत्र शायद भारत की सबसे बड़ी थाती है जो भारी विविधता के बावजूद एकता के भाव को प्रदर्शित करता है, मगर ब्रिटिश शैली वाली संसदीय परिपाटी तमाम अक्षमताओं से भरी है। ऐसे संसदीय तंत्र की सीमाएं भारत में और ज्यादा दिखती हैं जो समूचे यूरोप से आबादी और विविधता में कहीं ज्यादा बड़ा है।

भारत को हमेशा लोकतंत्र की बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। ऐसा इसलिए, क्योंकि भारतीय तंत्र अधिकारों पर तो जोर देता है, लेकिन उनके साथ जिम्मेदारियां-जवाबदेही तय नहीं करता। वैसे भी भारतीय राजनीतिक तंत्र में और तमाम खामियां व्याप्त हो गई हैं। इनमें खानदानी मिल्कियत की तर्ज पर चलने वाले वंशवादी दलों की बढ़ती संख्या भी एक है। इससे भी अशुभ यह है कि सार्थक विचारों के अभाव में मजहब, संप्रदाय और जाति जैसे पहलुओं के अलावा निहित स्वार्थ भी राष्ट्रीय राजनीति में घुस आए हैं। जब ऐसे स्वार्थ हावी हैं तब प्रगतिशील भविष्योन्मुखी राष्ट्रीय एजेंडा को आगे बढ़ाना और ज्यादा चुनौतीपूर्ण हो गया है।

दलगत-वैचारिक कटुता बढ़ने के कारण चुनौतियों पर राष्ट्रीय सहमति नहीं बन पा रही। इससे कूटनीति, आर्थिक वृद्धि और सुरक्षा के मोर्चे पर आवश्यक सुधार आकार नहीं ले पा रहे। यह हमारी महाशक्ति बनने की आकांक्षाओं पर आघात करने वाला है। दुनिया का हर छठा व्यक्ति भारतीय होने के बावजूद भारत क्यों निरंतर अपनी क्षमताओं से कमतर बना हुआ है?

जो भी हो अमेरिका के साथ यदि कोई तुलना हो सकती है तो वह प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप को लेकर ही संभव है। वह ध्रुवीकरण के एक कारक बने हुए हैं। नौ महीने पहले मोदी की प्रचंड जीत ने इस ध्रुवीकरण को और मजबूत ही बनाया। इसकी एक वजह नई दिल्ली का वह अभिजात्य वर्ग भी रहा जिसने मोदी को कभी

स्वीकार ही नहीं किया, बिल्कुल वैसे जैसे वाशिंगटन में एक वर्ग को ट्रंप कभी फूटी आंख नहीं सुहाए। वास्तव में ट्रंप की ही तरह मोदी के आलोचक भी उन्हें एक दबंग तानाशाह बताते हैं। वास्तविकता यही है कि अमेरिकी लोकतंत्र की तरह भारतीय लोकतंत्र में भी ऐसे पर्याप्त प्रावधान हैं कि कोई तानाशाही न पनप सके। सच यही है कि मोदी के खिलाफ अनाप-शनाप बोलकर उनके आलोचक भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे मूल्यों को ही रेखांकित करते हैं।

विकासशील दुनिया में भारत सबसे स्वतंत्र एवं स्थायित्व वाले देशों में से एक बना हुआ है। कुछ आरोपों की बौछार ने भारत की छवि पर चोट पहुंचानी शुरू कर दी है। मोदी के आलोचकों ने एक अलग-थलग भारत का खाका खींचा है। ट्रंप का दौरा ऐसी बदरंग कल्पनाओं की हवा निकालेगा। मोदी के आलोचक उन्हें 'दबंग' का जो दर्जा देते हैं वह वास्तव में मोदी की नाकामियों पर पर्दा डालकर उनकी छवि चमकाने का ही काम करता है। इससे भारतीयों को यही लगता है कि भारतीय तंत्र की अंतर्निहित खामियों से निपटने के लिए ऐसे ही किसी निर्णायक नेतृत्व की दरकार है।

मोदी समर्थकों और मोदी विरोधियों की वैचारिक लड़ाई से विभाजनकारी राजनीति को ही बल मिल रहा है जो आंतरिक सुरक्षा के लिए चुनौती बनने पर आमादा है। भयादोहन की इसी राजनीति की मिसाल बीते दिनों देश के तमाम शहरों में तब देखने को मिली जब नागरिकता संशोधन कानून के विरोध में मुस्लिम तबके के विरोध ने हिंसक स्वरूप ले लिया।

आज भारत के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती विस्तारवादी चीन या शातिर पाकिस्तान की नापाक गतिविधियां नहीं, बल्कि ध्रुवीकृत भारतीय राजनीति है। जब भीतर से ही ऐसा खतरा पैदा हो रहा है तब क्या भारत चीन-पाकिस्तान की गलबहियों से पैदा हो रहे जटिल क्षेत्रीय सामरिक चुनौतियों से निपटने में सक्षम हो सकेगा। ध्रुवीकृत राजनीति की दलदल में फंसा भारत स्वयं को एक चौराहे पर खड़ा पाता है। खेमेबाजी वाली लड़ाइयां ध्रुवीकरण को बढ़ाने के साथ ही भारत के व्यावहारिक सामंजस्य वाली पोषित परंपराओं को नुकसान पहुंचाने के साथ ही देश के लोकतांत्रिक ढांचे पर भी आघात कर रही हैं।

समाज में गहराती विभाजन और ध्रुवीकरण की खाई को पाटने के लिए तार्किक विश्लेषण एवं सामाजिक विमर्श की ओर लौटना ही होगा। बहस साझा हितों एवं सहभागी दृष्टिकोण के साथ होनी चाहिए कि भारत को कैसे सुरक्षित एवं सशक्त बनाया जाए न कि निजी हमलों एवं आरोप-प्रत्यारोप पर। राजनीतिक लड़ाइयां मतदाताओं के मोर्चे पर लड़ी जानी चाहिए न कि सड़कों पर।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:24-02-20

बदलती जरूरतों में भी नहीं बदली जो भूमिकाएं

ऋतु सारस्वत

हाल ही में फिनलैंड ने लैंगिक समानता की ओर ठोस कदम उठाते हुए अपने यहां मातृत्व अवकाश की ही भांति 'पितृत्व अवकाश' को सात महीने करने का प्रस्ताव रखा है। विश्व के ज्यादातर देशों में पितृत्व अवकाश गैर-जरूरी माना जाता है

और इसके पीछे सीधा और स्पष्ट कारण यह है कि आज भी बच्चे की देखभाल का दायित्व केवल मां का माना जाता है। बीते दशकों में विश्व भर में अनेकानेक सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव हुए हैं। आर्थिक-राजनीतिक संस्थाओं में महिलाओं का हस्तक्षेप बढ़ा है, पर अगर कुछ नहीं बदला है, तो वह है महिलाओं का पारिवारिक दायित्व और उनसे पारिवारिक अपेक्षाएं।

बीते माह यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्सास तथा मैरीलैंड में जेंडर फ्लेक्सिबिलिटी बट नॉट इक्वलिटी : यंग एडल्टस डिवीजन ऑफ लेबर प्रेफरन्स शीर्षक से हुए शोध की रिपोर्ट आई है। शोध में जब स्कूल में अध्ययनरत किशोर छात्रों से पूछा गया कि उनकी दृष्टि में आदर्श परिवार में कार्य व्यवस्था का क्या स्वरूप होना चाहिए, तो चौथाई किशोरों का कहना था, 'पुरुष बाहर जाकर कार्य करें और महिलाएं घर में रहकर बच्चों की देखभाल।'

यह अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि पितृ-सत्तात्मक समाज में लैंगिक विभेद की जड़ें कायम हैं। क्या इन बच्चों को यह सिखाया गया है कि महिलाओं का दायित्व घर की देखभाल करना है? नहीं, ये बच्चे अपने घरों, दोस्तों, पड़ोस और रिश्तेदारों के परिवार में यही देखते आए हैं और इसलिए उनका मस्तिष्क इसे स्वीकार कर चुका है कि आदर्श व्यवस्था यही है। लैंगिक समानता को लेकर चिंतित विश्व इस सत्य को देख ही नहीं पा रहा है कि नारों, जुमलों, भाषणों से कभी भी लैंगिक समानता नहीं आ सकती, इसके लिए वास्तविक धरातल पर प्रयास की जरूरत है और 'पितृत्व अवकाश' इस दिशा में अच्छी पहल है। डैड्स बेबीसिट : टुवार्ड्स इक्वल पेरेंटिंग किताब में लेखक उस सामाजिक व नीतिगत चुनौती की चर्चा करते हैं, जो पुरुषों द्वारा देखभाल को उनकी मर्दानगी के लिए कमतर आंकती है।

समस्या की मूल जड़ इसी सोच के साथ जुड़ी है, जहां लड़कों को बचपन से यही सिखाया जाता है कि वे परिवार के भावी मुखिया हैं और लड़कियों को यह बताया जाता है कि वे तभी अच्छी मानी जाएंगी, जब वे हर स्थिति में पहली प्राथमिकता परिवार को देंगी। 'प्रभुत्व' का भाव पुरुषों के हिस्से और देखभाल का भाव स्त्री के हिस्से मान लिया जाता है। ये दोनों भाव पुरुष और स्त्री के व्यक्तित्व को ऐसे गढ़ देते हैं कि वे इस खोल से निकलने की कोशिश ही नहीं करते।

क्या वाकई पुरुष बच्चे की देखभाल नहीं कर सकते? ऐसा कोई तार्किक व वैज्ञानिक कारण नहीं है, सिवाय उन सामाजिक और परंपरागत मान्यताओं के, जो पुरुषों को यह दायित्व स्वीकारने नहीं देते। 2013 के एक कनाडाई अध्ययन में पाया गया कि बच्चों की देखभाल करने वाले पिता ने पारंपरिक प्रतिमानों को तोड़ने पर पुरुषों के बीच अपने कार्यस्थल पर अलगाव, बहिष्कार और अपमान का अनुभव किया। यह स्वाभाविक है, क्योंकि सामाजिक बदलाव एक लंबी प्रक्रिया के बाद ही अपना आकार ग्रहण करता है। स्वीडन में जब आज से चार दशक पहले पितृत्व अवकाश की अवधारणा आई, तो इसका लाभ लेने वालों की संख्या नाममात्र की थी, पर अब सभी पिता यह अवकाश लेते हैं और अपने बच्चों की देखभाल में समानांतर भूमिका निभाते हैं। जो पिता अवकाश नहीं लेते, उन्हें इस संबंध में सरकार को स्पष्टीकरण देना होता है।

यूनीसेफ का मानना है कि शुरू से ही माता-पिता के साथ सकारात्मक संपर्क बच्चों के दिमागी विकास के लिए महत्वपूर्ण होता है। इससे वे ज्यादा स्वस्थ और सुखी रह पाते हैं और सीखने की उनकी क्षमता भी बढ़ती है। घर व बाहर, दोनों जगह के कार्यों का दबाव स्त्रियों को शारीरिक और मानसिक रूप से बीमार कर रहा है, तो क्या यह जरूरी नहीं हो जाता है कि घर के काम में पुरुष सदस्य सहयोग करें? पिता का दायित्व सिर्फ आर्थिक दायित्वों की पूर्ति नहीं है, आरंभिक काल में बच्चों की देखभाल भी है। भारत को भी इस दिशा में विचार करने की जरूरत है कि कामकाजी माताओं के

दायित्वों को साझा करने के लिए पितृत्व अवकाश की अवधि में बढ़ोतरी हो। अगर ऐसा होता है, तो यकीनन लैंगिक समानता की दिशा में यह महत्वपूर्ण कदम होगा।

THE HINDU

Date:24-02-20

Batting for the downtrodden

With the sorry state of Dalits still evident in data, the judiciary needs to continue to uphold their rights

Sukhadeo Thorat , is Professor Emeritus, Jawaharlal Nehru University

The Supreme Court has ruled that quotas and reservations for promotions for government jobs are not a fundamental right, setting aside an Uttarakhand High Court order of 2012. The top court has also said that States could not be forced to make such provisions without data showing imbalance in representation of certain communities in public service.

While the legality of the ruling could be contended by legal experts, the top court's advice on quantifiable data on under-representation exhibits lack of a broader perspective on the status of Dalits. The Court should have been more prudent than to leave the entire decision to Uttarakhand which has a high rank in in the country in terms of the practice of untouchability.

According to a recent survey by academician Amit Thorat, up to 47% of respondents in the hill State admitted to practising untouchability. More than half the forward caste people confessed to practising untouchability. Further, nearly 68% Brahmins in rural and 77% Brahmins in urban areas of the State admitted to the practice. With such widespread discrimination prevalent in the State, an honest response on representation from the Executive and administration is hard to expect. Reminders of a massive backlog of posts under reservation have become a regular feature in all States. Ironically, the Court while passing its order remained silent on the sources of under-representation: namely data on caste discrimination in public employment and other spheres. One expected the Court to be aware about the under-representation of Dalits in ownership of land and enterprise, literacy, and access to civic rights, and their over-representation in poverty, malnutrition, and social isolation and atrocities.

Widespread discrimination

Where are Scheduled Castes (SCs) under-represented, and where are they over-represented? The SCs suffer from low ownership of capital assets, illiteracy, and lack of access to civil rights. In 2013, of the total wealth in the country, the share of SCs was only 5% in rural areas against their population share of almost 17%. In terms of their share in agricultural land, it was only 5% while in building assets it was 8%. On the other hand, the high castes owned 39% of total natural wealth — 41% land and 39% building assets. In urban areas, SCs own only 4% of total wealth: 6% land and 2.6% of buildings as against 45% of land and 76% of buildings by high caste, much in excess of their population share of about 21%.

In 2015, the enrolment rate in higher education was 20% for SCs compared to 43% for higher castes. Besides the massive backlog in government services, these are spheres where SCs are grossly under-represented. They are over-represented in wage labour, poverty and malnutrition. In 2014-15, almost half of Dalits depended on casual wage labour when compared to 11% of high castes. In 2012 about a third were poor, compared to 11% for high castes. Most importantly, caste discrimination and untouchability continue to be practised widely despite anti-discriminatory laws. Between 2001 and 2013, SCs had registered about 54,257 cases of atrocities or 4,174 cases annually. This is just the proverbial tip of the iceberg.

Primary studies show extensive discrimination in employment, farming, enterprise/business against SCs. Based on NSS data, these studies indicate that in 2017-18, of the differences in access to employment between SCs and high caste, about 71% was due to discrimination in hiring. Findings of another primary survey in 2013 in rural India show that SC entrepreneurs in grocery, eatery, and transport services faced discrimination, with the high castes reluctant to avail of their goods and services. Many SC farmers admit that they face discrimination in the buying of inputs and sale of outputs.

Part of social hierarchy

A lesser known fact shown in recent studies such as that of P. Sanal Mohan in Modernity of Slavery: Struggles Against Caste Inequality in Colonial Kerala is that about untouchables being a slave caste. Hindu slavery goes back to at least 600 BC. Manu recognised slavery in 200 BC; it continued to be practised for about 2,500 years before it was banned by the British in 1843. A significant fact is that untouchables were recognised as slave caste wholly in the service of high caste.

Empirical evidence from Bengal, Uttar Pradesh, Tamil Nadu, Andhra Pradesh and Kerala suggests that Hindu kings implemented the Brahminical theory of untouchables as slave caste for thousands of years.

Prof. Mohan while describing the plight of slaves observes: In Kerala the untouchable slaves generally go without clothing, barely cover their nakedness with a string of leaves propped around their loins. They eat all the refuse... were paid the lowest wages — that would keep them barely alive."

A statement often found in all slave transaction documents, "Kill you may kill, sell you may sell", bears testimony to the power of upper-caste Hindu and Christian landlords. In fact the entire agrarian economy was based on the exploitative slave labour of untouchables. Slavery is long gone but its legacy persists in the form of bonded, attached and forced labour of Dalits in many parts of the country.

Unaccountability and caste slavery have completely crippled Dalits. They remain asset-less, illiterate and socially isolated with overt residential segregation in rural areas, and subtly in urban areas. Therefore, the reservation policy is necessary as a safeguard against discrimination and to secure their fair share.

Need for compensation

But it is not enough. What the SCs require most is "adequate compensation or reparation" for traditional denial of rights to property and education, and slave labour. The affirmative action policies similar to reservation mainly provide protection against discrimination and ensure a fair share of benefits in the "present", but this is a weak remedy to deal with the consequences of "past" exclusion.

Dalits need to be given adequate land, enterprises, and funds for education as compensation. The rationale behind ensuring compensation is the enrichment of the higher castes at the cost of the impoverishment of Dalits through under-payment of wages to slave labour and denial of rights to land, enterprises, and education.

Since the high castes have benefited at the cost of the former untouchables, there is legal and moral justification that they compensate for the losses they have inflicted on the latter for centuries. With such a massive backlog in the condition of SCs, the top court should have been more sensitive in its observations. The Court and the judiciary is the last resort for Dalits who continue to face oppression under the pretext of divine ordination.

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date:24-02-20

Bumper problem

Open-ended procurement of paddy and wheat at MSPs out of sync with market prices is unsustainable.

Editorial

The government should stock sufficient quantities of all essential food items — not only rice and wheat — that enable effective market intervention, with the interest of poor consumers better taken care of through targeted cash transfers.On February 1, foodgrain stocks in government godowns were, at over 75 million tonnes (mt), the highest in any year for this time. If that weren't enough, the country, according to the Union Agriculture Ministry's advance estimates, is set to harvest a record 106.21 mt of wheat in 2019-20. This crop will start arriving in the markets from late March. Given the 34.13 mt procured from last year's lower production of 103.60 mt and the increase in minimum support price (from Rs 1,840 to Rs 1,925 per quintal), wheat purchases by government agencies are likely to be even more this time. With procurement of the 2019-20 paddy crop still on, and after deducting sales during February-June, total grain stocks in the Central pool could well touch 100 mt by July 1.

This is unsustainable, both physically and fiscally. The total storage capacity available with the Food Corporation of India (FCI) and state agencies as on end-2019 stood at 75.85 mt. Within that, the covered godown space was 62.65 mt and the balance 13.20 mt being just concrete plinth structures with tarpaulin tops in open area. Simply put, public warehouses are already bursting at the seams and finding place to stock more grain, without leaving them at the mercy of the elements or rodents, will itself present a challenge. More daunting is the fiscal challenge. The 2020-21 Union Budget has made a provision of Rs 1,15,569.68 crore towards food subsidy. But this figure excludes the FCI's borrowings from the National Small Savings Fund (NSSF) that are projected even higher, at Rs 1,36,600 crore. With its outstanding dues to NSSF slated to reach Rs 3,22,800 crore by March 31, 2021, the FCI is heading towards a liquidity crisis. And that's only to be expected, when its budgeted "economic cost" of Rs 26.84/kg for wheat and Rs 37.27/kg for rice in the coming fiscal is way above the corresponding public distribution system issue prices of Rs 2 and Rs 3/kg.

The conclusion is inescapable: Open-ended procurement of paddy and wheat at MSPs completely out of sync with market prices has to go. Physical and fiscal non-sustainability apart, it discriminates against farmers growing other crops requiring less water and fertiliser per kg. Farm support should be crop-agnostic and the best way to do it is by giving a flat per-hectare or per-holding subsidy. By moving from price to income support, all market-distorting input and output subsidies can be collapsed into the Pradhan Mantri Kisan Samman Nidhi or PM-KISAN scheme. The government should stock sufficient quantities of all essential food items — not only rice and wheat — that enable effective market intervention, with the interest of poor consumers better taken care of through targeted cash transfers. These are much-needed reforms that are easier to implement now than closer to the 2024 national elections. Kicking the can down the road isn't an option.

Date:24-02-20

Privacy breach

Justice Srikrishna sees the shadow of Big Brother in reworked data protection bill. His concern is not misplaced.

Editorial

While framing a law for personal data protection, India had sought a middle path between the industry-friendly laissez faire approach of the US and the scrupulously strict, citizen-centric European General Data Protection Regulation. The former had enabled the explosive growth of the Silicon Valley giants. The latter seeks to protect citizens from unhealthy effects of the explosion. The privacy Bill, drafted by Justice BN Srikrishna in 2018, did balance the interests of industry and individuals, but the version which was cleared by the cabinet in December had been reworked by the information technology ministry to foreground another stakeholder: The government. At the same time, the burden on industry imposed by data localisation requirements had been reduced, at the cost of public safety. Justice Srikrishna anticipates that the system update would pave the way to an "Orwellian state".

The government has arrogated to itself the right to define the nature of critical private data and the constitution of the proposed Data Protection Authority. In the original draft, the body was at arm's length from the government, with members appointed by an independent committee. The revised bill transfers this power to government officials, allowing the government of the day to acquire control of the institution. The power to define sensitive and non-sensitive personal data, which is at the core of the privacy law, will also vest with the government. Coupled with the right to call in all non-critical personal data held by any entity, this could legally and democratically enable pervasive state surveillance, which is a feature of authoritarian governments.

While increasing the government's grip over the privacy law apparatus and allowing it to get under the hood, the revised draft has also diluted provisions requiring foreign fiduciaries from locating and processing data within the territory of India. Data localisation was deemed necessary due to the slow and outdated processes of the Mutual Legal Assistance Treaty, which Indian authorities must follow to secure information from American entities for the purpose of law enforcement. Whether localisation would provide faster access to the data of entities incorporated overseas remains a matter of debate, since the

legal process would remain offshore. However, the concerns about a shift in the balance of power raised by Justice Srikrishna are beyond question. Data laws are not made for an ideal world run by high-minded governments. They are written to protect the individual from both Big Digital and Big Brother.